

## संवैधानिक धर्मतंत्र नहीं चल सकता



धर्म, मानव-जीवन का न केवल अभिन्न अंग है, बल्कि यह हम सबके जीवन पर अमिट छाप भी छोड़ता है। भारतीय समाज मूल रूप से धार्मिक है। इसके कारण ही हम धर्म निरपेक्षता के विचार के साथ सहज नहीं हो पाते और राजनीति में धर्म लगातार सिर चढ़कर बोलता है।

एक व्यक्ति अपनी “एकांतिकता” का जैसा उपयोग करता है, अल्फ्रेड नॉर्थ व्हाइटहेड के अनुसार वही उसका धर्म है। पूर्व राष्ट्रपति राधाकृष्णन् के अनुसार धर्म, “नैतिक नियमों की एक संहिता है; और अनुष्ठान, पर्व, समारोह एवं आराधना के तरीके, उसकी बाहरी अभिव्यक्ति हैं।” एक उच्च या अलौकिक शक्ति के प्रति समर्पण के अलावा धर्म कुछ नहीं है। धर्म की तरह संविधान भी, विश्व में कुछ व्यवस्था और एकजुटता लाने का प्रयास करता है। यही कारण है कि अमेरिका जैसे देश को भी, जहाँ चर्च और सरकार के बीच एक स्पष्ट वर्गीकरण है, “एक ऐसा देश माना जाता है, जिसकी आत्मा चर्च में निहित है।” 1952 के जोराच बनाम क्लाडसन मामले में न्यायाधीश विलीयम ओ डगलस ने यह स्वीकार किया था कि, “हम ऐसे धार्मिक इंसान हैं, जिनका समाज एक सर्वोच्च सत्ता को मानता है।”

धर्म तो विश्वास की बात है। इसमें तर्क और अनुभववाद का कोई काम नहीं है। इसके साथ ही यह अपवर्जनात्मक और भेदभावपूर्ण भी है। अतः सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के विरुद्ध किया जाने वाला सबरीमाला मंदिर में चल रहा विरोध, खेदजनक होने के बावजूद कोई नया या आश्चर्यजनक नहीं है। शाहबानो के मामले में निर्णय के बाद भी ऐसा ही हुआ था। हैरान करने वाली बात तो एक अत्यधिक धार्मिक मामले में न्यायालय का हस्तक्षेप है, और धर्म में सुधार करने को लेकर अति उत्साह दिखाना है। यह सब संवैधानिक नैतिकता के नाम पर किया जा रहा है। सुधार किए जाने आवश्यक हैं। परन्तु जब ये सुधार ऊपर से नीचे की ओर आते हैं, तो अनुत्पादक ही रह जाते हैं। इनका हश्र यह होता है कि कट्टरपंथी ही बाजी मार ले जाते हैं।

धर्म, प्रतिगामी होते हैं। परन्तु अनेक उदार प्रजातंत्र भी धार्मिक तानेबाने को अपनाते हुए देखे जा सकते हैं। आधुनिक संविधान भी एक प्रकार के संवैधानिक धर्मतंत्र जैसे ही जान पड़ते हैं। 1838 में अब्राहम लिंकन ने अमेरिकावासियों को “राष्ट्र के राजनैतिक धर्म” के अनुपालन के लिए कहा था। 2014 में प्रधानमंत्री मोदी ने भी भारत के संविधान को ही अपना धार्मिक ग्रंथ कहा था। लालू प्रसाद यादव से लेकर भीड़ की हिंसा करने वाले तक सभी बड़ी श्रद्धा के साथ संविधान के समक्ष वचन देते हुए न्याय-व्यवस्था में ‘पूर्ण आस्था’ की बात कहते हैं। क्या इस ‘आस्था’ का ही दूसरा नाम धर्म नहीं है?

सामान्यतः तो विश्वास अंधा होता है। अतः किसी को भी किसी भक्त से ऊलझना नहीं चाहिए, चाहे वह ईश्वर का हो या नेता का। 1971 में अटल बिहारी बाजपेयी ने इंदिरा गांधी को ‘दुर्गा’ कहा था। हाल ही में महाराष्ट्र में भाजपा के प्रवक्ता ने नरेन्द्र मोदी को “विष्णु का ग्यारहवां अवतार” करार दिया था। राहुल गांधी, स्वयं को एक धर्मनिष्ठ हिन्दू घोषित करने के लिए अनेक मंदिरों के दर्शन करते घूम रहे हैं। देश के अधिकांश मंत्री, “मैं निष्ठापूर्वक वचन देता हूँ” के स्थान पर “भगवान के नाम” की शपथ लेते हैं।

हमारे न्यायालय, “न्याय का मंदिर” कहे जाते हैं। सर्वोच्च न्यायालय की मुहर पर भी ‘यतो धर्मस्तो जयः’ लिखा होता है। हिन्दू धर्म में “धर्म” और “कानून” को एक दूसरे का पर्याय माना गया है। हमारे अपेक्स कोर्ट भी यही मानते हैं।

हम भी तो अक्सर ऐसी कह देते हैं कि ईश्वर के कानून की तरह ही संविधान भी ऐसा उच्च कानून है, जिसके आगे सभी कानून और मनुष्य छोटे हैं। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, संवैधानिक नैतिकता के नाम पर एक नए जन-धर्म को लाने का प्रयत्न करते दिख रहे हैं। यह भी सच है कि कई बार हमारे न्यायाधीश, विशुद्ध सांसारिक मामलों के निपटारे के दौरान अनावश्यक रूप से धार्मिक ग्रंथों के उद्धरणों का प्रयोग करते हैं। हमारे ऊपर ईश्वर की सत्ता है। कानून का संबंध भी सत्ता से ही है।

निःसंदेह संविधान, आधुनिक नागरिक धर्म का एक पवित्र ग्रंथ है। अन्य धर्मों की तरह ही, इस नागरिक धर्म के भी अपने स्रोत, समारोह, पैगंबर और शहीद हैं। अगर इसे पूरा महत्व दिया जाए, तो यह संवैधानिक मीमांसा और न्यायाधीश दीपक मिश्रा के अनुसार, “धार्मिक पुनर्जागरण”; न्याय, स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व की पूर्ण प्रतीति के साथ धरती पर स्वर्ग की स्थापना कर सकता है।

इस नागरिक धर्म में न्यायाधीश, पुजारियों की तरह हैं। हमें पवित्र ग्रंथ का अर्थ समझाने का उन्हें अधिकार है। उन्हें ‘माई लॉर्ड’ कहकर संबोधित भी किया जाता है। ईश-निंदा की तरह ही न्यायालय की अवज्ञा भी दंडनीय होती है। भगवान की तरह ही न्यायालय के ये लॉर्ड, प्रजातंत्र को अधिनायकवाद से बचाते भी हैं, और भगवान की ही तरह कई बार मनमाने ढंग से जीवन और मृत्यु का निर्णय कर देते हैं।

क्या धर्म को संवैधानिक नैतिकता और तर्कसंगतता के अधीन होना चाहिए? तर्कसंगतता और धार्मिक विश्वास साथ-साथ नहीं चल सकते, और संविधान इन विश्वासों का रक्षक है। संविधान की प्रस्तावना में ही संविधान को विचारों,

अभिव्यक्ति, आस्था, विश्वास और पूजा की स्वतंत्रता का रक्षक बताया गया है। अनुच्छेद 26 में प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय या वर्ग को “धर्म के मामले में” स्वायत्तता प्रदान की गई है।

धर्म से जुड़े इन अनुच्छेदों की व्याख्या करते हुए उच्चतम न्यायालय ने कहा था कि प्रत्येक धार्मिक परंपरा को संवैधानिक संरक्षण नहीं दिया जायेगा। न्यायालय ने धार्मिक स्वतंत्रता को अनिवार्य परम्पराओं तक ही सीमित कर दिया था। इस प्रक्रिया में यह ध्यान नहीं रखा गया कि एक परंपरा के ऊपर दूसरी परंपरा को विशेषाधिकार देना गलत है। सभी परंपराएं मिलकर ही धर्म का निर्माण करती हैं। 1994 में इस्माइल फारुखी मामले में न्यायालय ने “धार्मिक परंपराओं का विलक्षण महत्व” और “विभिन्न धर्मों के अंतर्गत धार्मिक परंपराओं का तुलनात्मक मूल्यांकन” जैसी कुछ शर्तों के माध्यम से धार्मिक स्वतंत्रता पर और भी लगाम कस दी। ये दोनों ही शर्तें न्यायालय के पूर्व निर्णयों के विरुद्ध जाती हैं, और इन पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए।

सत्य तो यह है कि न्यायालयों को पादरी की भूमिका नहीं निभानी चाहिए। धार्मिक सुधार करना उनका काम नहीं है। सबरीमाला विवाद और उसका राजनीतिकरण, एकबार फिर से इस बात पर जोर देते हैं कि विशुद्ध धार्मिक मामलों को सतर्कता के साथ निपटाया जाना चाहिए।

संविधान की सर्वोच्चता को कानून की मूर्ति बनाकर पूजने तक सीमित नहीं किया जाना चाहिए। संवैधानिक नैतिकता जैसा विचार प्रशंसनीय है। परन्तु हमारा परिवेश अभी इसके लिए तैयार नहीं है। संवैधानिक पाठ के बावजूद वास्तविकता के धरातल पर धार्मिक स्वतंत्रता का अर्थ न तो धर्म से स्वतंत्रता है, और न ही धर्म के अंतर्गत स्वतंत्रता (विशेष तौर पर स्त्रियों के लिए) है।

‘द इंडियन एक्सप्रेस’ में प्रकाशित फैज़ान मुस्तफा के लेख पर आधारित। 1 नवम्बर, 2018

AFEIAS